दैनिक जागरण
समाधान के लिए जरूरी है कि पहले हम समस्या को समझें

विशेष अदालतों का गठन

बाल यौन उत्पीड़न की बढ़ती घटनाओं से चिंतित सुप्रीम कोर्ट ने यह आदेश देकर सही किया कि उन जिलों में विशेष अदालतों का गठन करके ऐसे मामलों का निस्तारण किया जाए जहां इस तरह के सौ से अधिक मामले सामने आ चुके हैं। कहना कठिन है कि ऐसे जिले कितने हैं, लेकिन इसे लेकर संदेह नहीं कि बालक-बालिकाओं से दुष्कर्म की घटनाएं तेजी से बढ़ रही हैं। इसे इस आंकड़े से अच्छे से समझा जा सकता है कि इसी वर्ष एक जनवरी से 30 जून तक देश भर में बच्चों से दुष्कर्म की 24 हजार से अधिक घटनाओं को एफआइआर के रूप में दर्ज किया जा चुका है। चूंकि सुप्रीम कोर्ट ने अपने आदेश में यह भी स्पष्ट किया है कि केंद्र सरकार के खर्च पर गठित होने वाली विशेष अदालतें साठ दिन के अंदर काम शुरू कर दें इसलिए यह उम्मीद की जाती है कि ऐसा होगा, लेकिन उचित यह भी होगा कि यह सुनिश्चित किया जाए कि ये अदालतें फैसले देने में तत्परता का परिचय दें। यह अपेक्षा इसलिए, क्योंकि कई बार विशेष अदालतें भी धीमी गति से काम करती हुई दिखती हैं। निःसंदेह यह भी आवश्यक है कि निचली अदालतों के फैसलों की सुनवाई में देर न हो। इन मामलों का अंतिम स्तर पर जल्द निस्तारण करके ही यौन अपराधियों को कोई सही संदेश दिया जा सकता है।

कई राज्यों ने बाल दुष्कर्म के दोषियों के लिए मृत्यु दंड की सजा का प्रावधान कर रखा है। इसका उद्देश्य कठोर दंड के जरिये दुष्कर्मी तत्वों के मन में भय का संचार करना है। इसकी जरूरत केंद्र सरकार ने भी महसूस की और इसीलिए यौन उत्पीड़न से बच्चों को संरक्षण देने वाले अधिनियम अर्थात पोक्सो को संशोधित कर यह प्रावधान किया गया है कि बच्चों से दुष्कर्म के गंभीर मामलों में फांसी की भी सजा दी जा सकती है। इसके पहले दुष्कर्म रोधी कानून को भी संशोधित कर मौत की सजा का प्रावधान किया जा चुका है, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि देश को दहलाने वाले निर्भया कांड के गुनहगारों को दी गई फांसी की सजा पर अमल अभी तक नहीं हो सका है। कठोर कानूनों का महत्व तभी है जब उन पर अमल भी किया जाए। यह केवल सुप्रीम कोर्ट और केंद्र अथवा राज्यों सरकारों के लिए ही नहीं समाज के लिए भी गंभीर चिंता का विषय है कि बाल दुष्कर्म के मामले थमने का नाम नहीं ले रहे हैं। कोशिश केवल इसकी ही नहीं होनी चाहिए कि बाल दुष्कर्म के दोषियों को जल्द सजा मिले, बल्कि इसकी भी होनी चाहिए कि ऐसे घृणित अपराध होने ही न पाएं।

राज्य के नाम की खातिर

पिछले कई वर्षों से मुख्यमंत्री ममता बनर्जी पश्चिम बंगाल का नाम बदलकर बांग्ला करना चाहती हैं। पिछले वर्ष इस बाबत विधानसभा में नाम परिवर्तन का प्रस्ताव भी पारित कर केंद्र सरकार को भेज दिया गया था, लेकिन केंद्र सरकार नाम परिवर्तन को तैयार नहीं है। इसका एक उदाहरण बुधवार को तब देखने को मिला, जब तृणमूल कांग्रेस के एक सांसद के सवाल के जवाब में केंद्रीय गृह राज्यमंत्री नित्यानंद राय ने राज्यसभा में कहा-'किसी भी राज्य का नाम बदलने के लिए संविधान में संशोधन करने की जरूरत होती है। फिलहाल इस मामले में संविधान संशोधन का कोई प्रस्ताव नहीं है।' वहीं नाम बदलने की मांग को लेकर बुधवार को ही तृणमूल के 12 सांसदों के एक प्रतिनिधिमंडल ने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से मुलाकात की और पश्चिम बंगाल का नाम बदलने की मांग की। राज्यसभा में तृणमूल संसदीय दल के नेता डेरेक ओ'ब्रायन के मुताबिक पहले से ही पश्चिम बंगाल की सीएम केंद्र सरकार को इस बारे में 2011 से 2019 तक कई बार लिख चुकी हैं। जुलाई में ही गृह मंत्रालय ने सदन की बैठक में जवाब में कहा था कि नाम बदलना संभव नहीं, क्योंकि इसके लिए संविधान में संशोधन की जरूरत है। वहीं तृणमूल का कहना है कि ये टालने वाली बात हो गई है, क्योंकि उसको भी पता है कि ओडिशा की ही तरह इसके लिए संविधान में संशोधन करना होगा। अब पार्टी चाहती है कि इसी सत्र में या फिर अगले सत्र में इस संशोधन को लाया जाए। दरअसल बंगाल विधानसभा में पहले ही सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित हो चुका है। राज्य का नाम बदलकर बांग्ला करने को लेकर ममता बनर्जी ने प्रधानमंत्री मोदी को पत्र लिखा था। उन्होंने पीएम मोदी से मांग की थी कि संसद के मानसून सत्र में ही पश्चिम बंगाल का नाम बदलकर बांग्ला किया जाए। 26 जुलाई, 2018 को पश्चिम बंगाल विधानसभा ने राज्य का नाम बांग्ला करने का प्रस्ताव पारित किया था, परंतु आज तक नाम परिवर्तन नहीं हो सका है। पिछले वर्ष पहली बार प्रस्ताव पारित नहीं हुआ था। इससे पहले भी दो बार प्रस्ताव केंद्र को विधानसभा में पारित कर भेजा जा चुका है। ममता चाहती हैं कि पश्चिम बंगाल नाम बदल जाए, पर केंद्र की भी कुछ मजबूरियां हो सकती हैं।

> 26 जुलाई, 2018 को पश्चिम बंगाल विधानसभा ने राज्य का नाम बांग्ला करने का प्रस्ताव पारित किया था, परंतु आज तक नाम परिवर्तन नहीं हो सका है

कारगिल संघर्ष के सही सबक

सी उदयभास्कर

ऐसी उम्मीद थी कि कारगिल समीक्षा समिति की सिफारिशों से बेहद जरूरी खुफिया सुधारों की राह खुलेगी, लेकिन बीते 20 वर्षों में ऐसा हो नहीं पाया है

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अगुआई में देश कारगिल में शहीद हुए सैनिकों का पुण्य स्मरण करने जा रहा है। इस अवसर पर देश उन सभी सैनिकों को भी याद करेगा जिन्होंने आजादी के बाद से ही तिरंगे की आन-बान-शान के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए। 26 जुलाई की तारीख का खास महत्व है। कारगिल में इसी दिन भारत को निर्णायक जीत हासिल हुई थी जब हिमालय की दुर्गम पहाड़ियों से पाकिस्तानी घुसपैठियों को पूरी तरह खदेड़ दिया गया था। मोदी सरकार की इस बात के लिए सराहना की जानी चाहिए कि उसने देश को एक नेशनल वार मेमोरियल यानी राष्ट्रीय युद्ध स्मारक की सौगात दी है। यह काफी समय से लंबित था। नई दिल्ली में इंडिया गेट के पास बने इस स्मारक में 16 दीवारों पर 35,942 सैनिकों के नाम उत्कीर्ण किए गए हैं। यह बीते 72 वर्षों में देश के लिए भारतीय फौजियों के मानवीय बलिदान को श्रद्धांजलि है। इनमें कारगिल के वीर शहीदों के नाम भी शामिल हैं जो भारतीय सैनिकों के अदम्य शौर्य एवं साहस के प्रतीक हैं।

शहीदों की स्मृति में तीन दिवसीय राष्ट्रव्यापी अभियान के लिए की गई पहल सर्वथा उचित है। प्रधानमंत्री मोदी ने अपने चुनाव अभियान में भी जिस प्रकार राष्ट्रीय सुरक्षा पर जोर दिया उससे भी इस पहलू के राजनीतिक निहितार्थ प्रत्यक्ष होते हैं। प्रधानमंत्री मोदी को इस बात के लिए पूरा श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने अपने पहले कार्यकाल में ही युद्ध स्मारक का निर्माण सुनिश्चित किया। इसी वर्ष 25 फरवरी को इसका औपचारिक उद्घाटन हुआ था। यहां मोदी इसलिए भी सराहना के पात्र हैं, क्योंकि स्वतंत्र भारत में ऐसे युद्ध स्मारक की मांग तबसे हो रही थी जब सत्ता के शीर्ष पर नेहरू विराजमान थे। इंडिया गेट जैसा प्रभावशाली स्मारक ब्रिटिश राज में शहीद होने वाले उन जवानों की स्मृति में बना था जिन्होंने औपनिवेशिक शक्तियों के लिए लड़ते हुए अपने प्राणों की आहुति दी। सैनिकों की बहादुरी और पराक्रम की अपनी सर्वव्यापी स्वीकार्यता है, लेकिन इसके राजनीतिक आवरण को अनदेखा नहीं किया जा सकता। स्वतंत्र भारत के लिए अपने युद्ध स्मारक की आवश्यकता स्पष्ट थी, लेकिन भारतीय परिदृश्य में शुरुआती दशकों की प्राथमिकताएं अलग थीं। नेहरू के दौर में राजनीतिक नेतृत्व और सैन्य कमांडरों के बीच अपेक्षाकृत नाजुक संबंधों का भी इसमें योगदान था। 1962 में चीन के साथ युद्ध और कृष्णा मेनन प्रकरण ने भारत का मनोबल तोड़ दिया था। इसका परिणाम यह निकला कि भारत को अपना पहला युद्ध स्मारक हासिल करने के लिए 55 वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

कारगिल शहीदों का स्मरण जहां भावनात्मक रूप से मर्मस्पर्शी है, लेकिन इसका एक व्यापक संस्थागत औचित्य भी है जिस पर ध्यान दिए जाने की दरकार है। कारगिल संघर्ष वास्तव में भारत के प्रतिरक्षा प्रबंधन में अक्षमता का परिणाम था। तब यही माना गया कि भारत इससे 'अवाक' रह गया था और एक आक्षेप यह लगा कि 'चौकीदार' लापरवाह था या फिर गायब।

इससे पहले 1962 में जब चीनी सेना ने भारत का मानमर्दन किया और फिर नवंबर 2008 में पाकिस्तान प्रायोजित निर्मम आतंकियों के जत्थे ने मुंबई में हिंसा का जैसा क्रूर चेहरा पेश किया तो दोनों ही मामलों में एक जैसी बातें की गईं। उनका सार यही था कि दुश्मन भारत को ऐसे वक्त में चौंकाने में सक्षम हुआ जब देश की खुफिया सूचनाएं जुटाने और उनके आकलन की क्षमता स्तरीय नहीं थी। कारगिल संघर्ष के बाद वाजपेयी सरकार ने के. सुब्रमण्यम के नेतृत्व में एक समिति गठित की थी। वह मौजूदा विदेश मंत्री एस जयशंकर के पिता थे जिन्हें भारतीय सामरिक नियोजन का पितामह कहा जाता है। सुब्रमण्यम समिति के गठन का उद्देश्य उन कारणों की पड़ताल करना था जिनके चलते कारगिल में युद्ध जैसी स्थिति बनी। इस समिति को यह जिम्मा भी सौंपा गया कि भविष्य में ऐसे सैन्य टकराव टालने के लिए क्या रणनीति बनाई जा सकती है? इसमें चार विशेष श्रेणियां चिन्हित की गईं और तत्कालीन उप-प्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में मंत्रियों के समूह का गठन किया गया। उनमें खुफिया विभाग एक प्रमुख मसला था। दुर्भाग्यवश अमेरिका में 9/11 हमला और संसद पर आतंकी हमले के चलते जरूरी सुधार ठंडे बस्ते में चले गए और मनमोहन सिंह सरकार की प्राथमिकताएं कुछ अलग थीं।

यह एक हकीकत है कि बीते 20 वर्षों के दौरान संसद में कारगिल संघर्ष के बाद जरूरी समझे जाने वाले सुधारों पर कोई गंभीर चर्चा नहीं हुई और हालिया चर्चा में भी खुफिया सुधारों की जरूरत पर ही बात हुई। भारत को खुफिया ब्यूरो यानी आइबी औपनिवेशिक परंपरा से विरासत के रूप में मिली और 1966 तक यही देश की इकलौती प्रमुख खुफिया एजेंसी बनी रही। 1966 में बाहरी खुफिया जरूरतों के लिए रिसर्च एंड एनालिसिस विंग यानी रॉ की स्थापना की गई। आरएन काउ भारत की खुफिया इकाई के सबसे मशहूर जासूस मुखिया माने जाते हैं। उनका प्रभाव इतना था कि उनके शुरुआती शागिर्दों को 'काउ-बॉयज' तक कहा गया। बी रमन भी उनमें से एक थे जिनके साथ मेरा लंबा पेशेवर जुड़ाव रहा। रमन देश के सबसे काबिल खुफिया अधिकारियों में से एक थे और खुफिया तंत्र की कमियों से भलीभांति परिचित भी। बीते कई दशकों के दौरान राजनीतिक नेतृत्व ने खुफिया तबके की पेशेवर क्षमताओं को कुंद किया है। इसमें आइबी का काम मुख्य रूप से घरेलू राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखने तक सीमित हो गया है। पेशेवर प्रतिबद्धता के अभाव और कमजोर नेतृत्व के चलते आइबी और रॉ क्षेत्राधिकार को लेकर कड़वाहट भरे संघर्ष में उलझकर रह गई हैं। ऐसी उम्मीद थी कि कारगिल समीक्षा समिति की सिफारिशों से बेहद जरूरी खुफिया सुधारों की राह खुलेगी, लेकिन बीते 20 वर्षों में ऐसा हो नहीं पाया। खुफिया सुधारों के आलोक में रमन की यह टिप्पणी खासी उल्लेखनीय है कि 'किसी संकट के आधार पर समीक्षा में अतीत की ही पड़ताल होती है कि आखिर क्या गलत हुआ और उसे कैसे रोका जा सकता था? वहीं आवश्यकता के आधार पर होने वाली समीक्षा भविष्योन्मुखी होती है। इसमें भविष्य की जरूरतों के लिहाज से आवश्यक कदम उठाए जाते हैं।'

अफसोस कि कारगिल के दो दशक बाद भी भारत के नाजुक खुफिया ढांचे को दुरुस्त करने को कोई ठोस कवायद नहीं हुई है। हम यही उम्मीद कर सकते हैं कि कारगिल की स्मृति में कार्यक्रमों की समाप्ति के बाद मोदी-शाह-डोभाल की तिकड़ी इस मोर्चे को प्राथमिकता के आधार पर साधेगी। रमन इससे खासे कुपित रहते थे कि हमारे नीति निर्माता खुफिया क्षमताओं में सुधार के बजाय उन्हें और बिगाड़ रहे हैं। अब इस पर विराम लगाकर वास्तविक सुधारों की शुरुआत होनी चाहिए।

(लेखक सामरिक मामलों के विश्लेषक एवं सोसायटी फॉर पालिसी स्टडीज के निदेशक हैं)

response@jagran.com

अवधेश राजपूत

राम नाम को बांटने की कोशिश

प्रो. निरंजन कुमार

इससे विचित्र और कुछ नहीं कि जिस बंगाल में सबसे अधिक राम कथाएं रची गईं वहीं राम को लेकर आपत्ति उठाई जा रही है

सांस्कृतिक विमर्श कैसे राजनीति का शिकार हो सकते हैं, इसकी एक मिसाल है अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन का बयान। इसकी दूसरी मिसाल है 49 बुद्धिजीवियों की वह चिट्ठी जिसमे असहिष्णुता, भीड़ की हिंसा का जिक्र करते हुए कहा गया है कि जयश्रीराम नारे के सहारे हिंसा की जा रही है। प्रधानमंत्री मोदी के कटु आलोचक सेन का कहना था कि जय श्रीराम बंगाली संस्कृति से जुड़ा हुआ नहीं है और रामनवमी पूजा का बंगाल से खास संबंध नहीं। इस वक्तव्य के पार्श्व में बंगाल में चल रही ममता बनर्जी और भाजपा में शह-मात की राजनीतिक लड़ाई है, जो एक सांस्कृतिक युद्ध में बदल गई है। यहां विवाद का सांस्कृतिक-भूगोल बंगाल तो है, लेकिन विमर्श का परिप्रेक्ष्य बंगाल से निकलकर अखिल भारतीय हो गया है। सर्वप्रथम बंगाल और राम के संबंध को ही देखा जाए। राम को बंगाल के बाहर का अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिंदीभाषी क्षेत्र का सांस्कृतिक पुरुष बताया जा रहा है, लेकिन यह जानना प्रासंगिक होगा कि भारतीय आर्यभाषा परिवार की भाषाओं में संस्कृत-अपभ्रंश के बाद सबसे पहली रामायण बंगाल में ही रची गई। बांग्ला में 'कृत्तिवास रामायण' या 'श्रीराम पांचाली' की रचना पंद्रहवीं शताब्दी के बंग-भाषा के आदिकवि कृत्तिवास ने की थी। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' से लगभग सौ वर्ष पूर्व 'कृत्तिवास रामायण' लिखी जा चुकी थी। वाल्मीकि कृत 'रामायण' से प्रभावित होते हुए भी कृत्तिवास ने उसे कैसे बंगाली संस्कृति के अनुरूप ढाला, यह इससे स्पष्ट होता है: 'जब रावण से युद्ध करते समय श्रीराम निराश हो रहे थे तब राम ने शक्ति (दुर्गा) की आराधना की और रावण पर विजय पाई।'

कृत्तिवास द्वारा राम की शक्ति पूजा की कथा को बाद में अन्य भाषाओं के साहित्य में भी चित्रित किया गया। दुर्गा या राम को लेकर जो सांस्कृतिक अथवा वैचारिक भेद की दीवार खड़ी की जा रही है उसके पीछे कई वजहें हैं। एक तो प्रत्यक्ष कारण है-राजनीतिक वर्चस्व की लड़ाई। दूसरा कारण है भारतीय चिंतन-दर्शन की आधी-अधूरी समझ, जिसमें विभिन्न देवी-देवताओं को अलग खांचों में बांटकर देखा जाता है। यह पश्चिम के एकेश्वरवादी चिंतन का प्रभाव है जो वैष्णव (विष्णु-राम-कृष्ण के आराधक), शाक्त (शक्ति या दुर्गा के उपासक) और शैव (शिव-पूजक) को एक-दूसरे का विरोधी तक मानते हैं। जबकि तुलसीदास ने लिखा है कि 'शिवद्रोही मम दास कहावा, सोई नर मोहि सपनेहु नहीं भावा।' अर्थात राम कहते हैं कि जो शिव का द्रोही है, वह मुझे सपने में भी प्रिय नहीं है चाहे वह मेरा दास क्यों न हो।

उत्तर भारतीय जिस भाव से राम की पूजा करते हैं उसी श्रद्धा से कोलकाता के दक्षिणेश्वर में काली, गुवाहाटी में कामाख्या या जम्मू में वैष्णो देवी (सब दुर्गा के ही रूप) की आराधना करते हैं। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने तुलसी के आविर्भाव से पहले ही बंगाल में 'हरे रामा-हरे कृष्णा' को गुंजायमान कर दिया था। तब राम क्या सिर्फ उत्तर भारत के हैं? यह प्रश्न इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि तमिलनाडु के नेताओं-बुद्धिजीवियों ने भी कुछ इसी तरह का सवाल उठाया था। अयोध्या के श्रीराम ईश्वर तो हैं ही, लेकिन इसके अतिरिक्त वह एक सांस्कृतिक पुरुष भी हैं जिनसे पूरा भारत युगों-युगों से प्रभावित हुआ है। सभी क्षेत्रों, भाषाओं, जातियों के लोगों ने अपने-अपने तरीके से अथवा रामकथा रची है। वाल्मीकि की 'आदि रामायण' के बाद व्यास रचित महाभारत में भी 'रामोपाख्यान' के रूप में यह कथा वर्णित हुई है। बौद्ध परंपरा में श्रीराम से संबंधित 'दशरथ जातक', 'अनामक जातक' और 'दशरथ कथानक' नामक तीन जातक कथाएं उपलब्ध हैं। जैन साहित्य में रामकथा संबंधी कई प्रमुख ग्रंथ हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं में हिंदी में 11, मराठी में 8, बांग्ला में 25, तमिल में 12, तेलुगु में 12 और उड़िया में 6 रामायणें मिलती हैं। सबसे अधिक रामायण बंगाल में ही रची गईं। इसके अतिरिक्त गुजराती, मलयालम, कन्नड़, असमिया, कश्मीरी, उर्दू, अरबी, फारसी, संथाली आदि भाषाओं में भी रामकथा लिखी गई है। पिछड़े-दलित और आदिवासियों ने भी राम को अपनी रचना का विषय बनाया। यही नहीं मुस्लिम रचनाकारों में भी श्रीराम लोकप्रिय रहे। अमीर खुसरो ने तुलसीदास से 250 वर्ष पूर्व लिखा 'वो हम सब का मालिक राम' तो तुलसी के समकालीन रहीम राम के आदर्श को नमन करते हुए लिखते हैं 'रामचरित मानस विमल, संतन जीवन प्राण/हिंदुआन को वेद सम, यवनहीं प्रकट कुरान'। 1623 में सादुल्ला मसीह की 'दास्ताने रामो-सीता' फारसी-भाषी जनता में लोकप्रिय हुई। इसकी हस्तलिखित प्रतिलिपियां ब्रिटिश इंडिया म्यूजियम, एशियाटिक सोसायटी बंगाल आदि में सुरक्षित हैं। इकबाल जैसे शायर ने तो यहां तक कहा कि हिंद का प्याला सत्य से भरा हुआ है और जितने भी दार्शनिक मगरिब (पश्चिम) में हुए हैं, वे भारत के श्रीराम का विस्तार हैं।

विदेशों में भी 'तिब्बती रामायण', पूर्वी तुर्किस्तान की 'खोतानी रामायण', इंडोनेशिया की 'काकविन रामायण', जावा का 'सेरतराम', 'सैरीराम', 'रामकेलिंग', 'पातानी रामकथा', इंडो-चीन की 'रामकेर्ति', 'खमैर रामायण', म्यांमार की 'यूतोकी रामयागन', थाईलैंड की 'रामकियेन' आदि रामचरित्र का बखूबी बखान करती हैं। स्पष्ट है कि श्रीराम वह सांस्कृतिक पुरुषोत्तम हैं जो देश-काल से परे हैं। श्रीराम जिन जीवन मूल्यों, आदर्शों, मर्यादा और सामाजिक समरसता की प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करते हैं वे भारतीयों के जीवन-संस्कृति में रचे-बसे हैं। इसीलिए हर भारतीय अपनी 'राम-कहानी (जीवन कथा)' सुनाता है। मिलने-जुलने पर 'राम-राम' या 'जय रामजी की' कहना एक धार्मिक अभिवादन के बजाय एक सांस्कृतिक-लौकिक अभिवादन है। 'जय श्रीराम' इसी की एक कड़ी है जो पॉपुलर कल्चर की देन है और रामायण सीरियल के माध्यम से आम जनमानस में और फैली। निःसंदेह जो कुछ अतिपंथी 'जय श्रीराम' के नाम पर हिंसा कर रहे हैं वे प्रभु श्रीराम का अपमान और समाज को तोड़ने का काम कर रहे हैं। उनसे सख्ती से निपटा जाना चाहिए।

जेएनयू के पूर्व शोधार्थी साकिब सलीम (2017) सही लिखते हैं कि 'हमें यह समझने की जरूरत है कि श्रीराम केवल हिंदू धर्म के भगवान नहीं हैं, बल्कि इस मिट्टी की धरोहर हैं। धरोहर को बांटना न तो मुमकिन है और न अक्लमंदी'। तथाकथित सेक्युलरिस्ट बुद्धिजीवियों और अतिवादियों को यह बात समझ लेनी चाहिए।

(लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं)

response@jagran.com

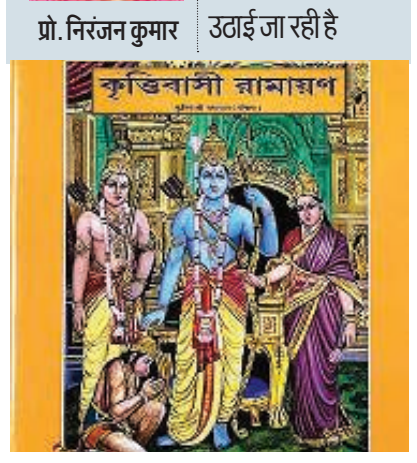

ऊर्जा

समय का महत्व

जीवन पल-पल के सौम्य धागों से बुना हुआ है। इसलिए समय हमारे जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो ऐसा अहसास होता है कि समयबद्ध जीवनशैली ही हमारे जीवन का निर्माण करती है। अतः समय से संघर्ष करने वाला ही महान बनता है। कहा जाता है कि एक बार नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने सेना नायक को भोजन के लिए आमंत्रित किया। समय पर पहुंचने में उन्हें कुछ विलंब हो गया। नेपोलियन भोजन करने लगे। वह खाना समाप्त करके उठ ही रहे थे कि वह आ गए। उन्हें देखकर नेपोलियन ने कहा, 'भोजन का समय बीत चुका है, आइए अब अपना काम शुरू करें।' जाहिर है समय की महत्ता का पालन कर ही उन्होंने उच्च पद और लोकप्रियता अर्जित की। इतिहास ऐसी घटनाओं से भरा पड़ा है।

ग्लैडस्टोन सरीखे प्रतिभाशाली व्यक्ति हमेशा अपनी जेब में एक छोटी-सी पुस्तक लेकर निकलते थे। उन्हें चिंता रहती थी कि कहीं कोई घड़ी व्यर्थ न चली जाए। उनके लिए समय अमूल्य धन था। वैसे धन मनुष्य कृत संचय होने के कारण इसे चोर चुराकर तो ले जा सकता है, परंतु समय ईश्वर प्रदत्त संपत्ति होने के कारण चोर इसे चुरा नहीं सकता। इसलिए हमें भी प्रत्येक पल का सदुपयोग करते हुए जीवन को ऊंचा उठाने का प्रयास करना चाहिए। अतीत की चिंता नहीं करनी चाहिए। किसी विद्वान ने इस संदर्भ में उचित ही कहा है कि अतीत भविष्य की प्रयोगशाला है। अतीत में हुई अपनी कमियों एवं गलतियों से सबक लेने और भविष्य में उसे न दोहराने का प्लेटफॉर्म वर्तमान है। इसी को लक्षित करते हुए खलील जिब्रान ने कहा है, 'बीता हुआ कल आज की स्मृति है और आने वाला कल आज का स्वप्न है।'

अतः वर्तमान हमारे पास है। इसलिए प्रत्येक पल का सदुपयोग जीवन की सतह पर इस तरह आनंद से व्यतीत करना चाहिए, जिस प्रकार हरित पर्ण पर ओस की बूंदें नृत्य कर रही हों। जो समय चिंता में गया समझो कूड़ेदान में गया। जो समय चिंतन में गया समझो तिजोरी में जमा हो गया। अतः समय ही संपत्ति है, शृंगार एवं अमृततुल्य है। इसी के द्वारा हम जीवन को ऊंचा उठा सकते हैं। मार्क ट्वेन का कहना है कि हमें जो सबसे बहुमूल्य वस्तु मिली है, वह है समय। अतः उसे किफायत से खर्च करना चाहिए।

देवेंद्रराज सुथार

गंगा नहीं रहेगी तो देवी गंगा का क्या होगा

गोमुख हिमनद गंगा के जल का मुख्य स्रोत है। गंगोत्री से अठारह किलोमीटर ऊपर हिमालय में स्थित। यह हिमालय के सबसे बड़े हिमनदों में से है, लगभग 27 घन किलोमीटर बड़ा। कुछ अध्ययन बताते हैं कि इसकी गहराई लगभग 200 मीटर है। वैज्ञानिक कहते हैं कि ग्लेशियर तब बनते हैं जब लंबे समय तक हिम की परतें एक के ऊपर एक जमा हो जाती हैं। हिम की ये परतें कई सौ फुट मोटे हिमनदों का रूप ले लेती हैं। गंगोत्री हिमनद भी ऐसे ही बना होगा। हजारों वर्षों का इतिहास समेटे। मगर यहां लोगों के लिए यह सब सिर्फ किताबी बातें हैं।

कथित विकास की अंधी दौड़ में हमें टिकाऊ या सतत विकास के बारे में सोचने का मौका ही नहीं मिलता। ग्लेशियर हैं तो नदियां हैं, नदियां हैं तो जल, जंगल, और मानव सभ्यता और जीवन है, लेकिन सच्चाई यही है कि गंगा के बेसिन में क्लास एक शहरों के रूप में वर्गीकृत 36 शहर नदी में जाने वाले अपशिष्ट में 96 फीसद गंदगी डालते हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की 2013 की रिपोर्ट के मुताबिक गंगा के किनारे बसे शहर रोजाना 2,723 मिलियन लीटर घरेलू सीवेज इस नदी में ही प्रवाहित करते हैं, लेकिन यह महज एक अनुमान है और वास्तविकता इससे कहीं अधिक भयावह हो सकती है, क्योंकि बोर्ड का यह अनुमान शहरों में पानी की सप्लाई की मात्रा को लेकर की गई गणना पर आधारित है।

फिर से

> गंगा के किनारे बसे शहर रोजाना 2,723 मिलियन लीटर घरेलू सीवेज इस नदी में ही प्रवाहित करते हैं

पर हर शहर में हैंडपंप और कुएं जैसे अलहदा साधन भी होते हैं। इस तरह गंगा में रोजाना करोड़ों लीटर सीवेज नालों के जरिए गिराया जाता है। कहने की जरूरत नहीं कि हमारे शहरों में इस सीवेज को उपचारित (ट्रीट) करने की क्षमता बेहद कम है। बेहद कम इसलिए, अगर हम दो तथ्यों पर ध्यान दें। पहली बात, सीवेज पैदा होने और उसके उपचार के बीच का अंतर हर साल 55 फीसद का है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि चाहे हम सीवेज ट्रीटमेंट में और अधिक क्षमता को जोड़ भी लें तो भी आबादी बढ़ोतरी की वजह से यह अंतर तो बना रहेगा।

आबादी में बढ़ोतरी और सीवेज डिस्चार्ज की वास्तविक मात्रा के अनुमान को साथ रखकर गणना की जाए तो पता चलता है कि हमारी ट्रीटमेंट की क्षमता और सीवेज उत्पादन के बीच का अंतर 80 फीसद तक बढ़ जाता है। मैदानी इलाकों में गंगा की मुख्यधारा और इसकी दो सहायक नदियों राम गंगा और काली नदी के साथ कम से कम 764 औद्योगिक इकाइयां हैं जो नदी में जहरीला अपशिष्ट उड़ेलती हैं।

गंगा के साथ दिक्कत यह है कि इसके किनारे स्थित अधिकतर शहरों में भूमिगत सीवेज सिस्टम भी नहीं हैं। खासकर प्रयागराज और वाराणसी जैसे शहरों का 80 फीसद हिस्सा अभी भी सीवर की कवरेज में नहीं है। इन शहरों में अपशिष्ट तो पैदा हो रहा है, लेकिन वह ट्रीटमेंट प्लांट तक नहीं पहुंचता। नदियों को देवी के रूप में पूजने वाले देश में गोमुख के पास खड़े होकर यह सोचना कितनी पीड़ा की बात है कि यहां ग्लेशियर दिन ब दिन पीछे खिसक रहा है, और वहां मैदानों में हम अपने घरों और उद्योगों का पूरा कूड़ा नदी में प्रवाहित कर रहे हैं। जब नदी ही नहीं बचेगी तो देवी मान कर जिस गंगा की पूजा हम करते हैं, उसका क्या होगा?

(साभार : गुस्ताख ब्लॉग में मंजित ठाकुर)

मेलबाक्स

दल-बदल सत्तासुख का आकर्षण है

भाजपा के कांग्रेसीकरण का सवाल शीर्षक से लिखे अपने लेख में प्रदीप सिंह ने जिस दल-बदल की चर्चा की है वह भाजपा का कांग्रेसीकरण नहीं, अपितु सत्तासुख का वह आकर्षण है जो कांग्रेस के वर्चस्व के समय भी था और आज जब भाजपा का कमल खिल रहा है तब भी है। वस्तुतः सत्तासुख की मिठास राजनीति से जुड़े लोगों की दलीय निष्ठा को प्रभावित करती है। आज भाजपा की यही मिठास दूसरे दल के नेताओं को आकर्षित कर रही है। दरकती दलीय निष्ठा से राजनीति का जो चारित्रिक पतन हुआ है उससे आज कोई भी राजनीतिक दल अछूता नहीं है। संघनिष्ठ भाजपा में भी यह वायरस है जिससे प्रभावित होकर विगत में भाजपा के एक समर्पित वरिष्ठ नेता ने सपा की लाल टोपी पहन ली थी, लेकिन जब उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ तो वह पुनः घर वापस आ गए। यद्यपि संघ प्रेरित भाजपा में अन्य दलों की अपेक्षा दल-बदल की बीमारी बहुत कम है, क्योंकि भाजपा में सक्रिय संघनिष्ठ नेता अपनी वैचारिक निष्ठा से समझौता नहीं कर पाते, लेकिन दूसरे दलों से आने वाले उन नेताओं के प्रति भाजपा संगठन पर्याप्त सावधानी बरतता है, जिनका संघ शाखा से उपजी वैचारिक निष्ठा से कोई लेना देना नहीं होता। शायद इसीलिए भाजपा संगठन ऐसे नेताओं को तत्काल कोई महत्वपूर्ण जिम्मेदारी नहीं सौंपता। भाजपा की संघनिष्ठ रीति-नीति में रच-बस जाने के बाद ही उन्हें संगठन की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। भाजपा का यह स्वरूप ही उसको अन्य राजनीतिक दलों से अलग एक लोकतांत्रिक दल के रूप में स्थापित करता है। इस दृष्टि से सत्तासुख के वशीभूत अन्य दलों के नेताओं का भाजपा से जुड़ने को भाजपा का कांग्रेसीकरण बताना एक असंगत विचार है। हकीकत तो यह है कि एक परिवार के प्रति निष्ठाभाव रखने वाली कांग्रेस कभी भाजपा नहीं बन सकती और न ही अपनी संघनिष्ठ वैचारिकता से बंधी भाजपा का कभी कांग्रेसीकरण हो सकता है। भाजपा और कांग्रेस का यह विरोधाभास जगजाहिर है।

pandeyvp1960@gmail.com

इमरान का कबूलनामा

पाकिस्तान के प्रधानमंत्री इमरान खान ने अमेरिका में कबूल कर लिया कि पाकिस्तान में 30 से 40 हजार आतंकवादी मौजूद हैं। पुलवामा हमले को भी और उसमें जैश-ए- मोहम्मद के हाथ को भी उन्होंने कबूला। इससे भारत की बात को बल मिला है कि पाकिस्तान आतंकियों का गढ़ है। इमरान खान की भी तारीफ करनी चाहिए कि उन्होंने पिछली सरकारों की तुलना में इस बात को दिल से स्वीकार किया कि पाकिस्तान के अंदर आतंकियों का समूह सक्रिय है, लेकिन सिर्फ इससे ही बात नहीं बनेगी। इमरान खान को अब इन आतंकी संगठनों के ऊपर सख्त कार्रवाई करनी होगी, ताकि पाकिस्तान को लेकर दुनिया में जो धारणा है, वह बदले।

vijayt125@gmail.com

पाक में बढ़ती आत्महत्याएं

एक रिपोर्ट के मुताबिक पाकिस्तान में हर दिन 15 से 35 लोग आत्महत्या कर रहे हैं। पाकिस्तान के गांवों की तुलना में शहरों में यह समस्या विकराल है। पाकिस्तानियों के अवसाद ग्रस्त होने की मुख्य वजहों में नौकरी न मिलना, नौकरी छूटना, आमदनी न होना शामिल हैं। पाकिस्तान में बेरोजगारी की स्थिति बेहद खराब स्तर तक पहुंच गई है। पाकिस्तान में शिक्षा की जो मौजूदा दर है उसमें 50 फीसद युवा उच्च माध्यमिक तक की पढ़ाई भी पूरी नहीं कर पा रहे हैं। इन समस्याओं को हल करने के बजाय पाकिस्तान आतंकवाद की खेती कर रहा है। आखिर कहां जा रहा है पाकिस्तान?

nisharathore243000@gmail.com

कैसा लोकतंत्र?

कोई सिद्धांत नहीं, कोई लोकतांत्रिक मर्यादा नहीं। अपनी राजनीतिक वचनबद्धता का कोई मूल्य नहीं। दली